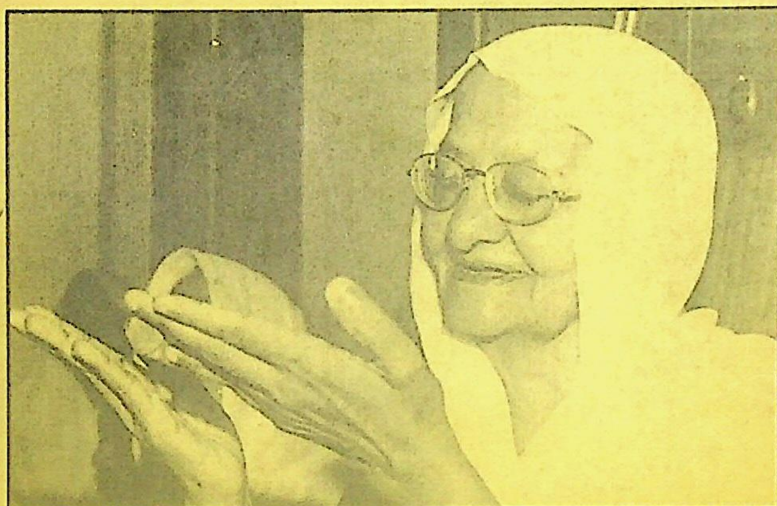


पूज्य आर्यिका

विशुद्धमती माताजी



जन्म : रीठी, १२ अप्रेल १९२९
समाधि : धरियावद, २२ जनवरी २००२



'सुमित्रा सदन' लोकार्पण के अवसर पर
सुषमा प्रेस, सतना द्वारा विनम्र भेंट
४ अप्रेल २००८

पूज्य १०५ श्री आर्यिका विशुद्धमती माताजी

पूर्व नाम	-	सुमित्राबाई
पिता	-	श्रीमान् सिंघई लछमन लाल जी
माता	-	श्रीमती मथुराबाई
भ्राता	-	श्री नीरज जैन, सतना. मप्र.
	-	श्री निर्मल जैन, सतना. मप्र.
जाति	-	गोलापूर्व दिगम्बर जैन
जन्मस्थान	-	ग्राम रीठी, जिला जबलपुर (अब कटनी) म.प्र.
जन्मतिथि	-	चैत्र शुक्ला तृतीया शुक्रवार सं. १९८६
	-	१२ अप्रैल १९२९
शिक्षण	-	शास्त्री, साहित्यरत्न, विद्यालंकार
धार्मिक शिक्षण	-	डॉ. पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर
कार्यक्षेत्र	-	दिगम्बर जैन महिलाश्रम, सागर. मप्र. (बारह वर्ष तक प्रधानाध्यापिका)
प्रेरणाप्रद संस्कार	-	पूज्य १०५श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी
प्रोत्साहन	-	परमपूज्य १०८श्री आचार्य धर्मसागरजी एवं उनके संघस्थ पूज्य १०८श्री सन्मतिसागर जी
आर्यिका दीक्षा	-	परमपूज्य तपोधन आचार्य १०८श्री शिवसागरजी महाराज द्वारा श्री अतिशय क्षेत्र पपौरा (१४ अगस्त १९६४)
शिक्षा गुरु	-	आचार्य कल्प १०८श्री श्रुतसागर जी
विद्या गुरु	-	पूज्य आचार्य १०८श्री अजितसागरजी
निर्यापकाचार्य	-	पूज्य आचार्य १०८श्री वर्द्धमानसागरजी
बारह वर्षीय सल्लेखना	-	१७ जनवरी १९९०, प्रारम्भ
अंतिम जल ग्रहण	-	१६ जनवरी २००२, समापन
समाधि	-	पौष सुदी अष्टमी, मंगलवार २२ जनवरी २००२.

ॐ

पूज्य आर्यिका विशुद्धमती माताजी

लेखक –

नीरज जैन, निर्मल जैन,

प्रकाशक

सुधाकर जैन, सुषमा प्रेस, सतना (म.प्र.)

समाधि-भावना

दिन-रात मेरे स्वामी, मैं भावना ये भाऊँ ।
देहान्त के समय में, तुमको न भूल जाऊँ ।। दिन-रात....

शत्रू अगर कोई हों, संतुष्ट उनको कर दूँ
समता का भाव धरकर, सबसे क्षमा कराऊँ ।। दिन-रात....

त्यागूँ आहार-पानी, औषधि-विचार-अवसर ।
टूटे नियम न कोई, दृढ़ता हृदय में लाऊँ ।। दिन-रात....

जागें नहीं कषायें, नहिं वेदना सतावे ।
तुमसे ही लौ लगी हो, दुर्ध्यान को भगाऊँ ।। दिन-रात....

आतम स्वरूप अथवा आराधना विचारूँ ।
अरहन्त, सिद्ध, साधू, फल न होने पाऊँ ।। दिन-रात....

जीने की हो न वाँछा मरने की हो न इच्छा ।
परिवार मित्रजन से, मैं मोह को हटाऊँ ।। दिन-रात....

भोगे जो भोग पहले उनका न होवे सुमिरन ।
मैं राज्य सम्पदा या, पद इन्द्र का न चाहूँ ।। दिन-रात....

रत्नत्रय का हो पालन, हो अन्त में समाधी ।
'शिवराम' प्रार्थना यह जीवन सफल बनाऊँ ।। दिन-रात....

पूज्य माताजी के ३९ वर्षायोग

दीक्षावर्ष १९६४ में १.पपौरा, बाद में सभी राजस्थान में - २.श्रीमहावीरजी, ३.कोटा, ४.उदयपुर, ५.परतावगढ़, ६.टोडारायसिंह, ७.भिण्डर, ८.उदयपुर, ९.अजमेर, १०.निवाई, ११.रैनवाल, १२.सवाई माधौपुर, १३.सीकर, १४.रैनवाल, १५.निवाई, १६.निवाई, १७.टोडाराय सिंह, १८.उदयपुर, १९.उदयपुर, २०.उदयपुर, २१.भिण्डर, २२.उदयपुर, २३.कूण, २४.भीलवाड़ा, २५.उदयपुर, २६.भिण्डर, २७.पारसोला, २८.अणिन्दा २९.पार्श्वनाथ, ३०.फलासिया, ३१.ईडर, ३२.रामगढ़, ३३.नगौड़ा, ३४.गींगला, ३५.नन्दनवन, ३६.मुंगाणा, ३७.नन्दनवन, ३८.नन्दनवन और २००१ में अंतिम ३९.नन्दनवन.

आत्मा और देह का संवाद

जय जय जय सर्वज्ञ जिनेश्वर जिन-वाणी उच्चारी ।
जय जय जय परम समाधी, रत्नत्रय भण्डारी ।।
जय जय जय चारों आराधन, जन-जन के हितकारी ।
जय जय जय यह मत्यु महोत्सव, अतिशय मंगलकारी।।

आत्मा की वर्तमान स्थिति -

चेतन है निर्लज्ज देह संग डोलत फिरत अनारी ।
हा ! हा! यह संगति अति खोटी, किस विधि जाय निवारी?
सखा अभिन्न रूप-रस वाला, कुमति कुमार्ग रिझाई ।
भूल स्वभाव, सुमति नारी को, पर घर देत बधाई ।।

भेद-ज्ञान हो जाने पर-

गुरु वाणी सुन भेदज्ञान की ज्योति जगी जगतारी ।
राग तजूँ काया का अब मैं, नष्ट करुँ भव फाँसी ।।
अज्ञ नहीं, मैं समझ रहा हूं, तेरी सब चतुराई ।
तेरी प्रीति बन्ध का कारण, यह श्रद्धा मन भाई ।।

काया का उलाहना-

श्वास आयु इन्द्रिय वाणी मन कर्म प्राण अवधारी ।
ले जाते सर्वत्र मुझे ही, अब क्यों करी दुराई ।।
मुझे ठौर है सर्व लोक में, चिन्ता यह अधिकाई ।
मुझ बिन तुम रह सकते कैसे ? मैं ही तो उपकारी ।।
सदा मुझे ही हृदय लगाया, कभी न करी जुदाई ।
अब क्यों रूठ रहे हो चेतन ! क्यों दे रहे बिदाई ।
'मरे हुये को मार रहे हो' यह अनीति दुखदाई ।
सत्य कहो चिर साथी चेतन ! क्यों कर गही समाधी ।।

चेतन का उत्तर-

चित् स्वभाव से पूर्ण सदा मैं, हूँ आनन्द विहारी ।
ज्ञान और सुख लक्षण मेरा, सत्ता तुझ से न्यारी ।।
यहाँ प्रवेश नहीं अब तेरा, तू चिर का अपराधी ।
तेरा नेह छोड़ने को ही, धारण करी समाधी ।।

पूज्य आर्यिका विशुद्धमती माताजी द्वारा रचित

साहित्य

- **भाषा टीकाएं :**

१. सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमीचन्द्राचार्य विरचित त्रिलोकसार टीका।

२. भट्टारक सकलकीर्ति विरचित सिद्धान्तसारदीपक टीका।

३. यतिवृषभाचार्य विरचित तिलोयपण्णत्ती : हिन्दी टीका (तीन खण्ड)

४. क्षपणासार हिन्दी अनुवाद।

५. अमितगति योगिराज विरचित योगसार प्राभृत (प्रश्नोत्तरी टीका)

- **मौलिक रचनाएं :**

१. श्रुतनिकुंज के किंचित् प्रसून
२. गुरु गौरव
३. श्रावक सोपान और बारह भावना
४. आनन्द की पद्धति अहिंसा
५. निर्माल्य ग्रहण भयंकर पाप
६. केवती विधान

- **प्रश्नोत्तर लेखन :**

१. धर्मप्रवेशिका प्रश्नोत्तर माला

२. धर्मोद्योत प्रश्नोत्तर माला

३. स्वरूप सम्बोधन पंचविंशतिका आचार्य अकलंक देव

४. इष्टोपदेश आचार्य पूज्यपाद स्वामी

५. छहढाला पं. दौलतराम

- **संकलन-सम्पादन :**

१. वत्थुविजा (खण्ड १- गृह शिल्प)

२. वत्थुविजा (खण्ड २- मन्दिर शिल्प)

३. प्रथमाचार्य शान्तिसागर महाराज का जीवन वृत्त

४. श्रमणचर्या
५. समाधिदीपक
६. दीपावली पूजनविधि
७. श्रावक सुमन संचय
८. श्रावक सोपान
९. स्तोत्र संग्रह
१०. संस्कार ज्योति
११. आर्यिका आर्यिका है

१२. पाक्षिक श्रावक प्रतिक्रमण एवं सामायिक विधि

१३. वृहद् सामायिक पाठ एवं व्रती श्रावक प्रतिक्रमण

हमारी सहोदरा विदुषी विशुद्धमती माताजी

नीरज एवं निर्मल जैन

संतों की चरणरज का संस्पर्श पारसमणि की तरह लोहे को सोना बना देता है। पैतृक संस्कार मनुष्य के जीवन पर अपनी अमिट छाप छोड़ते हैं, और सच्ची लगन, दृढ़ संकल्प तथा कठोर परिश्रम के द्वारा अचिंतनीय सफलतायें प्राप्त की जा सकती हैं। इन तीनों संयोगों का प्रतिफल एक व्यक्तित्व में यदि देखना हो, तो पूज्य आर्यिका विशुद्धमती माताजी के व्यक्तित्व में वह साक्षात् देखा जा सकता है।

पूज्य १०५श्री आर्यिका विशुद्धमती माताजी गृहस्थावस्था की हमारी सहोदरा थीं। गुरुवर १०५श्री गणेशप्रसादजी वर्णी का हमारे परिवार पर वात्सल्य रहा है। वे रीठी पधारते तब हमारे घर ही ठहरते थे इस कारण घर का वातावरण ऐसा रहा जिसमें हमें बचपन से धार्मिक संस्कार मिलते रहे। पूर्व जबलपुर (अब कटनी) जिले के अंतर्गत कटनी से केवल तीस किलोमीटर पर रीठी एक छोटा सा गाँव है। इसी गाँव में हमारे पिता श्री लछमनलाल सिंघई व्यापार करके अपना परिवार पोषण करते थे। वे जैन दर्शन के स्वाध्यायी विद्वान और पं. दौलतरामजी की छहढाला के मर्मज्ञ अध्येता थे। उन्होने बचपन में ही छहढाला हमें कण्ठस्थ करा दी थी। पिताजी कुशल वैद्य थे, जीवन भर स्वयं घर में बनवाकर औषधियों का नि:शुल्क वितरण करते रहे। वे गाँधीवादी विचार धारा के पोषक थे। सरकारी आतंक के उस युग में काँग्रेस के प्रचारकों के लिये हमारे घर का द्वार सदा खुला रहता था। इसके लिये हमारे परिवार को कई बार मुश्किलों का सामना करना पड़ा और हानि भी उठानी पड़ी। १९४२ में हमें भी कुछ दिनों जेल की हवा खाना पड़ी।

हमारे पिताजी तीन भाई थे। तीनों के मकान रीठी के बाजार में सर्व प्रथम बने पक्के मकान अभी भी खड़े हैं। काका गोविन्ददास न्यारे होकर अलग रहते थे परन्तु ताऊ श्री दमरूलालजी पिताजी के पास ही रहते थे। कपड़े की दुकान, गल्ले की आढ़त और पत्थर की खदान का संचालन, कुल मिलाकर हमारा घर मध्यम वर्ग काअच्छा भरा-पूरा परिवार माना जाता था। ताऊजी की एक पुत्री थी जो

अपने घर परिवार में सुखी थी। उनकी और कोई संतान नहीं थी। घर में ताऊजी का आदेश चलता था परन्तु जुए का व्यसन लग गया था। वे जुआ खेलने मैहर और आगरा तक पहुँच जाते थे। एक बार वे बहुत बड़ी रकम जुए में हार कर हमारे परिवार की बरबादी का कारण बन गये। शर्म और अपराध बोध के मारे वे घर लौटकर नहीं आये, कहीं भाग गये। पिताजी दो माह बाद पता लगाकर उन्हें घर लाये, पर कुछ ही समय बाद पश्चाताप की पीड़ा में तड़पते उनका स्वर्गवास हो गया। पिताजी उधार की पूँजी से परचूनी की छोटी सी दुकान चलाकर किसी प्रकार परिवार का पोषण करने लगे।

इस शताब्दी के पांच दशकों तक उत्तम श्रावक धर्म का मार्गदर्शन करने वाले महान मानवतावादी संतश्री गणेशप्रसादजी वर्णी के निकट सम्पर्क से संस्कारित, धार्मिक परम्पराओं वाले घर में, अत्यन्त सरल और धर्मभीरु जननी की गोद में पलने के कारण, छुटपन से सदाचार और दया-धर्म के संस्कार, घर के हम सभी बच्चों की तरह, सुमित्रा को भी सहज ही प्राप्त हुये थे। थोड़ा स्कूली और थोड़ा घरू शिक्षण भी मिला। छलढाला के मर्मज्ञ पिता के पास अपनी संतान को देने के लिये उत्तम संस्कार ही थे जो माता-पिता से संतान को मिलने वाली सबसे मूल्यवान सम्पत्ति होती है। वह सम्पदा जितनी जिके भाग्य में थी, हम सबको मिली।

इसी छोटे से गाँव में १२ अप्रेल १९२९, शुक्रवार चैत सुदी तीज संवत १९८६ को हमारी अनुजा सुमित्रा का जन्म हुआ। उस समय किसी को अनुमान भी नहीं था कि एक दिन यह बालिका अपने पुरुषार्थ से सारे देश में इस गाँव का नाम रौशन करेगी। तब रीठी में सिर्फ प्रायमरी स्कूल ही था जिसकी छाँह में हम दोनों भाइयों को चार कक्षा तक पढ़ने का अवसर मिल गया था, पर बहिनें तीसरी तक ही पढ़ पाईं थीं।

हमारी हठ पर किसी प्रकार पिताजी ने हमें कटनी के छात्रावास में अनपेड भर्ती करा दिया था, परन्तु कुछ महीने रह कर धर्म और अँग्रेजी का थोड़ा सा अभ्यास हम कर पाये थे कि १९४२ के अगस्त आन्दोलन में सरकार के विरुद्ध पोस्टर चिपकाते पकड़ कर बालक-जेल में रुद्ध कर लिये गये। तीन सप्ताह ही बीते थे कि पिताजी की बीमारी के कारण हमें रिहा करके घर भेज दिया गया। घर आकर हम अपने प्यारे पिता की केवल साँस चलते देख पाये, उनसे कुछ कहने-सुनने का अवसर नहीं मिला, बहुत देर हो चुकी थी, तब तक उनका बोल थक

चुका था। चिन्ता और स्नेह भरी दृष्टि डालते हुए हम सबके सिर पर हाथ फेर कर उन्होने हमें आशीर्वाद दिया और उनकी आँखें मुंद गईं। उनकी वह दयावनी, विवश सी लगने वाली आखिरी दृष्टि हमें कभी भूल नहीं पायेगी।

बाद में हम आगे नहीं पढ़ पाये और बहुत चाहते हुए भी अपने प्रिय अनुज को पढ़ाने का दायित्व भी हम पूरा नहीं कर पाये। यह कसक सदा हमारे मन में टीसती रही है। अग्रज के नाते यह हमारा कर्तव्य था, पर हमने कई बार अनुभव किया है कि गरीबी के सिकंजे की कसावट में आदमी का गला बाद में घुटता है, पहले उसकी भावनाओं का गला घुट जाता है। हमारे लेखे गरीबी का सबसे बड़ा दुख यही है जिसे भोगने को हर कोई विवश है। यही संसार की रीति है।

पिता की छाया हमारे सिर से उठते ही घर की हालत खस्ता हो गई । खाने वाले आठ थे, कमाने वाला चला गया था। तब मैं नीरज, और अनुज निर्मल, दोनों भाइयों तथा सुमित्रा सहित चार बहिनों का भार हमारी विधवा माँ ने सम्हाला। माँ को हम काकी कहते थे। हमें याद है काकी ने विपत्ति के उन दिनों में कठोर परिश्रम करके हम सबको माँ की ममता और पिता का संरक्षण दिया। उन्होंने कठिनाइयों के बीच कभी साहस नहीं छोड़ा, दुर्भाग्य के समय में भी धर्म पर अपनी श्रद्धा डिगने नहीं दी और गरीबी भोगते हुए भी अपने भीतर दीनता नहीं आने दी, अपने आत्म-गौरव को ठेस नहीं लगने दी। यही उनकी शक्ति थी जिसके बल पर वे भँवर के बीच से गृहस्थी की नाव को, अपराजित नाविक की तरह, अपनी आखिरी साँस तक खेती रहीं। प्रतिकूल परिस्थितियों का साहस पूर्वक सामना करने की हिम्मत ही उनकी सम्पदा थी जो वे हम भाई-बहिनों को सोंप कर गईं।

सुमित्रा पर उनका बड़ा प्रेम था। साढ़े चौदह वर्ष की आयु में, १९४३ में काकी ने पड़ोस के गाँव बाकल में सुमित्रा का व्याह कर दिया। फिर साल भर के भीतर हठ करके हमारे सिर पर मौर बँधाकर बहू का मुँह देखने की लालसा भी उन्होने जल्दी पूरी कर ली। इस प्रकार सोलह वर्ष की अवस्था में हमें पिता की छाया से वंचित होना पड़ा था। साढ़े सत्रह की आयु में हमारा विवाह हो गया और उसके एक माह के भीतर, फरवरी १९४४ में हमारी माँ भी तीन दिन की बीमारी में हमें छोड़ कर चली गईं।

माँ का वियोग हम सबके लिये अधिक दुखदायी था। पिता के जाने पर माँ के रहते हमने अपने आपको 'अनाथ' नहीं समझा था पर अब हमारी आँखों के

सामने अँधेरा था। हमारी चिन्ता करने वाले चाचा-मामा आदि कोई स्वजन नहीं थे। एक डरावना अकेलापन हमारा पीछा कर रहा था। माँ के जाते ही हमें अपना घर और गाँव सूना लगने लगा। साल भर में ही हमने रीठी छोड़ दी और सागर जाकर, उन्नीस साल की आयु में छोटी सी नौकरी के बल पर, अपनी कच्ची गृहस्थी के लिये 'नून-तेल-लकड़ी' की दुश्चिन्ता की भट्टी में अपने आपको झोंक दिया। उस विपन्नता का सामना करने में हमारी कर्तव्य-परायण धर्मपत्नी शान्ति और पितृव्य श्वसुर बट्टूलालजी गोदरे बहुत सहायक रहे।

सुमित्रा में जन्म से कोई विलक्षण योग्यता नहीं थी। सामान्य बालिकाओं की तरह, पन्द्रहवां वर्ष पूरा करने के पूर्व ही, समीपी ग्राम बाकल के एक सामान्य घर की वधू बनकर उसने अपना गार्हस्थ जीवन प्रारम्भ किया। उस समय दैव के दुर्विपाक ने, अपनी पूरी तीव्रता के साथ, उस बालिका-वधू पर एक निर्मम प्रहार किया। विवाह के डेढ़ वर्ष के भीतर उसे वैधव्य का दारुण दुख झेलना पड़ा। इस दुर्भाग्यपूर्ण आघात ने उस अबोध बालिका को जैसे शोक के सागर में फेक दिया था। इस आघात ने हमारे साहस और धैर्य की नींव को भी हिला दिया।

समान वय और समान समझ वाले हम सभी भाई बहिनों के बीच, उस दुर्दिन में कोई किसी को सान्त्वना देने, या कोई किसी के आँसू पोंछने के योग्य तो था ही नहीं, कर्मोदय की पीड़ा को समझने की बुद्धि भी छोटी बहिनों में नहीं थी। भविष्य अंधेरा और भयावना दिखाई देता था किन्तु परिस्थितियों से जूझने की हिम्मत हमें अपनी माँ से विरासत में मिली थी और भाग्य का सहारा हमारा एक मात्र अवलम्ब था। हमें प्रसन्नता थी कि माँ की इस विरासत में हमारे साथ शान्ति ने भी बराबर का हिस्सा अँगेज लिया था।

उन दिनों समाज में विधवा की दशा इतनी दयनीय और ऐसी उपेक्षापूर्ण देखने को मिलती थी जिसकी कल्पना भी हमें दुखी कर देती थी। अधिकांश समाज अशिक्षा और रूढ़ियों के जाल में फँसा हुआ था। नारी शिक्षा का प्रचलन नहीं था। विधवा स्त्री का परिवारिक सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं होता था। उसका दर्शन अशुभ कारक माना जाता था इसलिये शुभ अवसरों पर विधवा की उपस्थिति वर्जित होती थी। मृत्यु के उपरान्त 'मरण-भोज' की घातक प्रथा गरीब घरों के लिये दूसरी विपत्ति होती थी। इन विषम परिस्थितियों से अपनी अनुजा को घिरा हुआ देखकर हम पति-पत्नी उसके दुर्भाग्य पर आँसू बहाते रहते थे।

पिताजी बहुत पहले परिषद के इटारसी अधिवेशन में मरण-भोज के त्याग का नियम ले चुके थे इस कारण उनके निधन पर माँ ने मरण-भोज नहीं दिया था। इस अपराध पर समाज ने हमारे परिवार को बहिष्कृत कर दिया था। यह समाचार पाकर 'जैन मित्र' के सम्पादक पण्डित परमेष्ठीदासजी ललितपुर से सान्त्वना देने हमारे घर आये थे। उन्होने जैन मित्र में इस साहस के लिये माँ की प्रशंसा प्रकाशित की थी। माँ की मृत्यु पर तो मरण-भोज देने का प्रश्न इसलिये नहीं था क्योंकि एक तो परिवार की कमान हमारे विद्रेही हाथों में थी और दूसरा वास्तविक कारण था कि जिसके घर में अपने खाने का ठिकाना न हो वह दूसरों को कहाँ से खिलाता ?

इन सारी परिस्थितियों पर विचार करके हमने लोकाचार की अवहेलना करते हुए अपनी निस्संतान विधवा बहिन को, उस की सहमति से शिक्षित और स्वावलंबी बनाने का संकल्प किया। उसे अपने पास सागर लाकर 'माता चिरोंजाबाई जैन महिलाश्रम' में प्रवेश दिलाया जहाँ रह कर सुमित्रा ने मिडिल पास किया।

यह हमारा अनुभव है कि मनुष्य यदि हताश न हो जाये तो विपदा के समय उसकी शक्ति और साहस कई गुना बढ़ कर उसका साथ देते हैं। धीरज किसी भी विपत्ति से उबरने का कारगर उपाय है। 'धीरास्तरन्ति विपदां न तु दीनचित्ता:' --धीर-वीर जन ही विपत्तियों के सागर को पार कर पाते हैं, साहस खोकर दीन हुआ व्यक्ति विपत्तियों की भँवर से उबर नहीं पाता।

यौवन के द्वार पर खड़ी किशोरी सुमित्रा ने, वैधव्य का अभिशाप, कर्मोदय को अटल मानकर साहस से सहन किया। उसने अतीत के सारे संकल्प और अनागत के सभी विकल्प छोड़कर, अपने वर्तमान को सँवारने में सारा पुरुषार्थ नियोजित कर लिया। फलत: दो माह की पढ़ाई में प्रायमरी की परीक्षा अच्छे नम्बरों से पास की और मिडिल स्कूल का त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम दो वर्ष में पूरा कर लिया। सागर में नार्मल ट्रेनिंग स्कूल नहीं था अत: उसे आगे पढ़ाने के लिये हमने सागर छोड़ कर जबलपुर में अपने लिये आजीविका तलाश ली। वहाँ साथ रख कर एक वर्ष में 'टीचर्स-ट्रेनिंग' परीक्षा पास कराई। परीक्षा में सफल होते ही एक देहात के स्कूल में अध्यापिका पद पर सुमित्रा की नियुक्ति हो गई।

वर्णी बाबाके चरणों में हमारी अटल आस्था थी। हम साल में कम से कम एक बार, वर्णी जयन्ती पर बाबाजी के चरणों की धूल माथे पर लगाने के लिये उनके पास जाते रहे। नौकरी पर भेजने के पहले हम सुमित्रा को भी आशीर्वाद

दिलाने उनके पास ले गये। हमारी आस्था थी कि 'बाबाजी भक्तों का भविष्य बताते भर नहीं हैं, बनाते भी हैं।' बाबाजी ने नियुक्ति-पत्र पढ़कर सुमित्रा को सरकारी नौकरी के लिये मना कर दिया। उसका भविष्य निर्धारित करने के लिये उसी समय 'परिग्रह परिमाण व्रत' देकर आदेशित किया कि - 'जिस महिलाश्रम में तुमने शिक्षा प्राप्त की है, उसी मातृ संस्था की तुम्हें सेवा करना है। वह संस्था छोड़ कर अन्यत्र मत जाना।' यह दिशा-बोध पाकर संस्था संचालन के प्रशिक्षण के लिये एक वर्ष हमने उसे बम्बई में तारदेव महिलाश्रम में रखा। प्रबंधन की योग्यता पाकर लौटते ही, वर्णीजी के आदेशानुसार सागर महिलाश्रम में अध्यापिका पद पर सुमित्रा की नियुक्ति हो गई। जिस ज्ञान-मन्दिर में एक दिन उसकी शिक्षा-प्राप्ति का श्रीगणेश हुआ था, उसी मन्दिर में बैठ कर सुमित्रा ने दूसरी बहिनों के लिये ज्ञान-दान का अनुष्ठान प्रारम्भ कर दिया।

दिगम्बर जैन महिलाश्रम सागर में प्रधानाध्यापिका पद पर बिताये बारह वर्ष का सेवाकाल, सुमित्रा के व्यक्तित्व-निर्माण का काल भी कहा जा सकता है। इस बीच अत्यंत परिश्रम पूर्वक अध्ययन करके उसने विशारद, शास्त्री, साहित्य-रत्न और विद्यालंकार आदि अनेक उपाधियाँ अर्जित कर लीं और अपने सक्षम अध्यापक से धर्मोपदेश की योग्यता प्राप्त करली। हमें संतोष होता था कि अब दुर्भाग्य के पंक से निकल कर सुमित्रा का 'भाग्योदय' प्रारम्भ हो रहा है।

सुमित्रा के शुभोदय से समाज के मूर्धन्य विद्वान पंडित श्री पन्नालालजी साहित्याचार्य ने पुत्रीवत् स्नेह देकर उसे शास्त्री पर्यन्त संस्कृत और आगमज्ञान की विपुल सम्पदा प्रदान की। संस्था में अपने दायित्व सम्हालते हुए पण्डितजी की कक्षा में बैठ कर पढ़ना सुमित्रा के लिये सम्भव नहीं था अत: कृपालु गुरु ने करुणा करके - 'कुआँ प्यासे के पास आयेगा' इस असम्भव सी उक्ति को चरितार्थ करते हुए, प्रात बेला में प्रतिदिन स्वयं आश्रम जाकर उसे पढ़ाने की अहैतुकी कृपा का आश्वासन दे दिया। फिर तो गुरु ऐसे कि जाड़ा हो या बरसात, प्रात:ठीक पाँच बजे महिलाश्रम के द्वार पर उनका पदार्पण सूर्योदय की तरह सुनिश्चित होता था और शिष्या ऐसी की पाठ पूरा किये बिना कभी सोती नहीं थी। संस्था के नियमों के अनुसार रात में जब बिजली बंद कर दी जाती तब भोजन के साथ मिलने वाले घी को दिये में जलाकर वह अपना होम वर्क पूरा करती, पर अध्ययन में व्यवधान उसने कभी नहीं आने दिया।

शीघ्र ही हमारी बहिन जैन धर्म और जैन दर्शन की विदुषी बन गई। जब सतना आती तब नियम से हमारे साथ स्वाध्याय में बैठती और हर बार पण्डितजी की प्रशंसा करती थी। साहित्याचार्यजी की रोपी हुई विद्या की बेल में ही सुमित्रा ने अपने पुरुषार्थ से ज्ञान और संयम के पुष्प खिलाये।

इस ज्ञानाराधना के प्रभाव से सुमित्राजी के जीवन की धारा बदलने लगी। वर्णीजी के दिये संस्कारों से और परिग्रह-परिमाण व्रत के प्रभाव से उसके मन में अनासक्ति और उदासीनता की ज्योति प्रज्वलित हो गई। साधना और धर्म-प्रभावना के कार्यों में उनका अधिकांश समय जाने लगा। बिहार, बंगाल और आसाम तक धर्मोपदेश के लिये उनकी यात्रायें होने लगीं। उन्हीं के सद्‌प्रयासों से महिलाश्रम में श्री पार्श्वनाथ जिन चैत्यालय की स्थापना हुई। इसी अवधि में संस्था की नौकरी संबंधी औपचारिकताओं ने उन्हें अनुशासन सिखाया और अणुव्रतों के अभ्यास ने आत्म-निग्रह का प्रथम पाठ पढ़ाया। अध्यापन और शिक्षण की इस अवधि में भाईयों-भाभियों के आदर भरे स्नेहिल व्यवहार ने उन्हें जीवन की सामान्य आकुलतायें और संक्लेश कभी व्यापने नहीं दिये।

धर्म प्रचार की यात्राओं में उनकी सहाध्यापिका राजमती बाई छाया की तरह उनके साथ रहीं। दोनों ने इन्दौर, खण्डवा, राँची, गोलाघाट तथा दूर आसाम तक की यात्राएँ कीं। दोनों की यह मैत्री दोनों की दीक्षा ग्रहण करने तक अटूट बनी रही। आश्रम में उन्होने अनेक विधवा बहिनों को साहस देकर अपने हाथो से अपना भविष्य गढ़ने का मार्ग दिखाकर आगे बढ़ाया।

हम लोगों की आस्था के केन्द्र पूज्य क्षुल्लक श्री गणेश प्रसादजी वर्णी, १९६१ में चौंतीस दिन की सल्लेखना के साथ सद्गति-गमन कर चुके थे। वे हम भाई-बहिनों के लिये पिता के समान शुभ चिन्तक थे। वे ही हमारे लिये सत्प्रेरणा के सहज उपलब्ध एकमात्र आयतन थे। सुमित्रा के जीवन का परिष्कार करने में, उन वन्दनीय संत का प्रत्यक्ष सान्निध्य सर्वाधिक कार्यकारी रहा है।

वर्णीजी के अंतिम दिनों में पाँच-छह वर्षों तक, प्रतिवर्ष उन्होने नियमित रूप से ईसरी पहुँचकर संत-समागम के अनेक दुर्लभ अवसर प्राप्त किये। पैतृक संस्कारों के रूप में उनके व्यक्तित्व पर वर्णीजी का जो प्रभाव था, इन साक्षात् सम्पर्कों से उसका विरागी रंग, मानस पटल पर सहज ही रचता चला गया। सन् १९६१ में वर्णीजी की सल्लेखना के दृश्यों ने उस रंग को बहुत गाढ़ा करके स्थायित्व

दे दिया परन्तु मन विराग से ओत:प्रोत हो जाने के बावजूद भी, चारित्र के पथ पर आगे कदम बढ़ाने का साहस सुमित्राजी के मन में जुट नहीं पा रहा था। वर्णीजी के बाद बुन्देलखण्ड में गृहत्याग का एक भी उदाहरण सामने दिखाई नहीं दे रहा था। अत: देशकाल की विषमतायें, और नारी पर्याय की विवशतायें, मन के उत्साह को बार-बार खण्डित कर जाती थीं।

तभी अनायास एक दुर्लभ संयोग उपस्थित हो गया। चारित्र-चक्रवर्ती पूज्य आचार्य शान्तिसागरजी के द्वितीय पट्टाचार्य, पूज्य आचार्य शिवसागरजी के संघ के परम तपस्वी महामुनि धर्मसागरजी सहित तीन मुनियों के संघ का खुरई और सागर की ओर आगमन हुआ। धर्मसागर महाराज के साथ मुनिश्री सन्मतिसागरजी थे। उनकी निरपेक्ष वृत्ति और शान्त स्वाभाव ने मोक्ष-मार्ग की अभिलाषिनी सुमित्रा को आकर्षित किया। उनके मार्मिक संबोधनों-उद्‌बोधनों ने मन के सारे भय भगाकर उसके लिये अभय के आश्वासन प्रदान कर दिये।

मुनिश्री सन्मतिसागरजी गृहस्थावस्था में 'टोडारायसिंह वाले कन्हैयालाल' के नाम से जाने जाते थे। उनके बारे में सुना था कि वे शिवसागर जी के सामने क्षुल्लक दीक्षा की प्रार्थना लेकर गये थे तब महाराज ने कहा था-'तुम्हारा पुत्र अभी छोटा है, माँ के साथ उसे पिता का भी सहारा चाहिये। वह बड़ा हो जाये तब गृहत्याग का विचार करना, तब तक घर में रह कर ही साधना करो।'

कुछ समय बाद एक दिन कन्हैयालालजी की पत्नी जलाशय पर कपड़े धोने गई, वहाँ खेलते-खेलते उनका किशोर पुत्र पानी में फिसल गया। उसे बचाने माँ पानी में उतरी और दोनों वहीं डूब गये। इस दुर्घटना के एक माह बाद संकल्पित-श्रावक कन्हैयालालजी गुरु-चरणों में उपस्थित हो गये -'महाराज, मेरे दो ही बंधन थे, होनहार के एक ही झटके में दोनों कट गये हैं। अब घर ही नहीं रहा, तब छोड़ना क्या है ? अब शरण में लेकर मेरा उद्धार कीजिये।' दयालु आचार्य शिवसागरजी ने उन्हें पिच्छी प्रदान करके मोक्ष मार्ग का पथिक बना दिया। उन दृढ़ विरागी सन्मतिसागर महाराज का सदुपदेश और सत्परामर्श हमारी मुमुक्ष बहिन सुमित्रा को आत्म-उत्कर्ष की दिशा में प्रेरक निमित्त बना।

पण्डिता सुमित्राबाई ने मुनिश्री धर्मसगरजी के चरणों में सातवीं प्रतिमा के व्रत ग्रहण कर लिये। सकल-संयम अंगीकार करने की लालसा उनके मनमें बलवती होती जा रही थी पर साहस नहीं हो रहा था। सामने आर्यिका जीवन का

कोई उदाहरण नहीं था। बुन्देलखण्ड में कोई आर्यिका दीक्षा सुनने में नहीं आई थी। क्या होगा ? कैसे होगा ? का द्वन्द्व मन को मथ रहा था। इरादे बाँधती थीं, सोचती थीं, छोड़ देती थीं, कहीं ऐसा न हो जाये, कहीं वैसा न हो जाये। ऐसी उनके मन की दशा हो रही थी। मुनिश्री सन्मतिसागरजी ने साहस दिलाकर सुमित्रा की उलझन को सुलझाया। कुछ समय बाद दृढ़-संकल्पित ब्रह्मचारिणी सुमित्रा ने आर्यिका दीक्षा का श्रीफल गुरु-चरणों में चढ़ा दिया। उनके निवेदन पर धर्मसागर महाराज का उत्तर मिला-

-'हमारे साथ कोई आर्यिका नहीं है और आर्यिका को अकेले रहने की आगम की आज्ञा नहीं है। तुम आचार्य शिवसागरजी के पास जाकर प्रार्थना करो, दीक्षा आचार्य ही देंगे। वहाँ संघ में चार आर्यिका माताजी हैं, उनके साथ तुम्हारी नि:शल्य साधना सम्भव हो सकेगी। हमारा आशीर्वाद है।'

शिवसागर महाराज अपने चार मुनियों और चार आर्यिका माताओं के संघ सहित बुन्देलखण्ड में ही विहार कर रहे थे। उनका चौमासा श्रीक्षेत्र पपौरा के लिये निश्चित हो गया था। ब्र. सुमित्राजी ने संघ में जाकर आचार्यश्री के सामने अपनी प्रार्थना रखी। मुनिश्री धर्मसागरजी तथा सन्मतिसागरजी की अनुमोदना थी अत: प्रार्थना तत्काल स्वीकृत हो गई।

पार्श्व-प्रभु के निर्वाण दिवस पर चौदह अगस्त १९६४ की श्रावण शुक्ला सप्तमी को, श्री अतिशय क्षेत्र पपौरा के विशाल प्रांगण में, हजारों श्रावक-श्राविकाओं की उपस्थिति में सुमित्रा ने आर्यिका दीक्षा के लिये आचार्यश्री के चरणों में निवेदन किया। परिवार प्रमुख के नाते हमने अपने वक्तव्य में उसकी प्रार्थना का समर्थन करके गृह-त्याग कह अनुमति दी तब चतुर्विध संघ की सहमति प्राप्त करके आचार्यश्री ने दीक्षा के संस्कार करके उन्हें पिच्छी कमण्डलु प्रदान किया। इस प्रकार ब्रह्मचारिणी सुमित्रा दीक्षा पाकर 'आर्यिका विशुद्धमती माताजी' बन गईं।

उस समय वहाँ उपस्थित भारी जन समुदाय ने 'विशुद्धमती माताजी' के नाम से इस नवीन रूप में उनका अभिवादन तथा जय-जयकार किया। बड़े-बूढ़ों की स्मृति के अनुसार बुन्देलखण्ड में बड़े अन्तराल के बाद यह दीक्षा हुई थी। उसे बड़े साहस का काम कहा गया और सारे प्रदेश में इससे महती धर्म प्रभावना हुई। पपौरा में चार मास तक मेला सा लगा रहा। सैकड़ों स्त्री-पुरुषों ने अपनी शक्ति के अनुसार व्रत-नियम धारण किये।

जब भी उस दिन की स्मृति करता हूँ तब एक टीस पुनः मुझे पीड़ित करती है। ठीक उसी दिन हमारे व्यवसाय से संबंधित एक आवश्यक कार्य था जिसके लिये हम दोनो भाइयों में से किसी एक को शहडोल के जिलाध्यक्ष कार्यालय में उपस्थित होना अनिवार्य था। सदा की तरह हमने अग्रज होने का लाभ उठाया। हम पपौरा में उस दुर्लभ महोत्सव के सहभागी रहे जिसके फलस्वरूप निर्मल भाई उस दीक्षा समारोह के साक्षी नहीं बन पाये।

आचार्य शिवसागर जी का संघ चार मुनिराजों और पाँच आर्यिका माताओं का छोटा सा निर्दोष संघ था। देश भर में उसे आदर्श मुनिसंघ माना जाता था। संघ में किसी प्रकार का कोई आडम्बर दिखाई नहीं देता था। तेरह या बीस पंथ का कोई आग्रह नहीं था। धातु की एक प्रतिमा साथ में रहती थी, जिसे विराजमान करके बीसपंथ की आम्नाय के अनुसार पंचामृत अभिषेक आदि के विधि-विधान होते रहते थे। परन्तु स्थानीय किसी मन्दिर में कोई साधु उस पद्धति को प्रारम्भ करने या प्रचलित पद्धति को बदलने की प्रेरणा या हठ नहीं करते थे। पूजा की जहाँ जैसी परम्परा चल रही है उसे मोड़ने या बदलने का संघ के किसी भी सदस्य को अधिकार नहीं था। इस प्रसंग में युग-संस्थापक, प्रथमाचार्य, चारित्र-चक्रवर्ती शान्तिसागर महाराज का सुनिश्चित, सुस्पष्ट और कड़ा अनुशासन प्रवर्तमान था।

विहार में संघ के साथ कोई ताम-झाम, वाहन या परिग्रह नहीं चलता था। न तो किसी तीर्थ या मन्दिर के बहाने चन्दा एकत्र करने की व्याधि संघ में कभी रही और न ही ग्रन्थ प्रकाशन आदि का कोई आग्रह रहा। डोली, व्हील-चेयर और रावटी आदि का उपयोग कोई पिच्छीधारी, मुनि या आर्यिका नहीं कर सकते थे। सूर्यास्त से सूर्योदय तक सभी साधु और आर्यिका माताएँ भी मौन रहते थे। आचार्यश्री के प्रति सबके मन में अपार भक्ति थी और उनके कठोर अनुशासन का सबके मन पर आतंक रहता था। आचार्यश्री शिवसागरजी का अनुशासन जैसा कठोर था, उनकी करुणा और वात्सल्य भावना वैसी ही मृदुल और अपार थी।

वह स्मरणीय चौमासा

पपौरा के चातुर्मास में यह भी देखने को मिला कि आचार्य शिवसागरजी के तत्वावधान में निरन्तर ज्ञान-ध्यान और तप की साधना चलती रहती थी। सिद्धान्त के पारगामी विद्वान के रूप में पूज्यश्री श्रुतसागर जी मुनिराज और अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी साधु के रूप में पूज्य मुनिश्री अजितसागरजी की विशेष ख्याति थी।

पपौरा चातुर्मास की विशेषता रही कि अनेक त्यागी, ब्रह्मचारी, विद्वान और विदुषी, जिज्ञासु और वक्ता, संघ के दर्शन के लिये आते रहते थे। स्व. ब्र. श्रीलालजी, ब्र. बाबू सुरेन्द्रनाथ जी, ब्र. रतनचन्द्रजी मुख्तार तथा ब्र. प्यारेलालजी भगत, बाबा लाडमलजी आदि त्यागियों और सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्द्रजी, पंडित पन्नालालजी साहित्याचार्य, न्यायाचार्य पंडित दरबारीलाल जी कोठिया आदि विद्वानों तथा पंडिता सुमतिबाई शहा और बहिन विद्युल्लता शहा आदि विदुषी, बहिनों का अच्छा समागम चातुर्मास काल में होता रहा। ब्र. विद्युल्लता शहा की मातेश्वरी पूज्य आर्यिका चन्द्रमती माताजी संघ की वरिष्ठ आर्यिका थीं। संघ की प्रसिद्धि और प्रभावना का यह हाल था कि मुनियों के प्रति कुछ भ्रांति और निर्मूल धारणायें पालने वाले अनेक ज्ञान-पिपासु जन भी स्वयं संघ के सम्पर्क में आकर नत-मस्तक हुए और उन्होने अपनी धारणाओं में सुधार किया।

थिरता की परीक्षा

दीक्षा के उपरान्त विशुद्धमती माताजी की आस्था और साहस की कड़ी परीक्षा अंतराय कर्म के विपाक से होती रही। पहले ही दिन से उन्हें भोजन में अन्तराय आना प्रारम्भ हुये जो, श्रावकों की हजार सावधानियों के बाद भी, किसी रहस्य की तरह, कई महीनों तक उनके आहार में बाधक बनते रहे। सप्ताह में कभी-कभी एक बार भी निरन्तराय आहार नहीं हो पाता था। शरीर अत्यन्त अशक्त और शिथिल हो गया। रक्ताल्पता के कारण इन्द्रियाँ शिथिल पड़ने लगीं। पर इससे माताजी की संकल्प-शक्ति तनिक भी निबल नहीं हुई। उनका आत्मबल वैसा ही अडोल बना रहा।

पूज्य आचार्यश्री उनकी शारीरिक दशा के प्रति चिन्तित हो उठे। उन्हें णमोकार महामंत्र के अलावा कभी किसी मंत्र-तंत्र की चर्चा करते भी नहीं सुना गया था, पर एक दिन उन्होने अंतराय के उपद्रव के निवारणार्थ माताजी को वृहद्-शान्तिमंत्र की एक माला रोज फेरने का आदेश दिया। जीवन की वह प्रथम और अंतिम गुरु आज्ञा थी जिसका पालन करने से माताजी ने सविनय किन्तु दृढ़ता पूर्वक मना कर दिया। उनका उत्तर बहुत तर्क संगत था कि- 'क्या यह पद लेकर रोटी के लिये अनुष्ठान करना उचित होगा?' आचार्यश्री ने उनके परिणामों की दृढ़ता को बार-बार सराहा औरआशीर्वाद दिया। कालान्तर में उदय की मंदता आते ही वह उपद्रव स्वतः शान्त हो गया।

दीक्षित होते ही संघ की परिपाटी के अनुसार माताजी का शास्त्राभ्यास प्रारम्भ हुआ। पूज्य श्रुतसागरजी महाराज ने जैन सिद्धान्त की ज्ञान-वृद्धि के निरन्तर प्रयास किये। पूज्य अजितसागर जी महाराज ने उन्हें न्याय और व्याकरण शास्त्रों का अध्ययन कराया। गणित के अभ्यास और गोमटसार तथा षट्खण्डागम सिद्धान्त के स्वाध्याय में ब्र. रतनचन्द जी मुख्तार बहुत सहायक हुये। अद्भुत लगन और अथक परिश्रम के बल पर माताजी ने शीघ्र अनेक ग्रन्थों का गहन-ज्ञान अर्जित कर लिया। उसी अनुरूप उनका क्षयोपशम भी बढ़ता गया।

१९६१ में वर्णीजी के जाने के बाद हमारा संतसमागम का टूटा हुआ तार, बहिन के आर्यिका बनकर संघ में प्रवेश करने के बाद पुनः जुड़ गया। हमें देव-शास्त्र-गुरु की एक साथ आराधना का नया आधार मिल गया। हर चौमासे में हमारे परिवार के दो-तीन महीने संघ के सान्निध्य में व्यतीत होने लगे। कुछ समय बाद माताजी की मुँहबोली बहिन, हर प्रवास की संगिनी राजमती बाई ने भी आर्यिका दीक्षा प्राप्त करके उनका अनुसरण किया। दोनों ने परम-पुरुषार्थ के बल पर नारी जीवन में सम्भावित सर्वोच्च पद प्राप्त करके अपनी-अपनी पर्याय सार्थक कर ली।

पूज्य आचार्य शिवसागरजी

पूज्य शिवसागरजी महाराज परम प्रभावक आचार्य थे। उनकी क्षीण काया में एक अक्षीण तेज झलकता था। उनहें णमोकार महामंत्र का इष्ट था, सदा उसकी आवृत्ति करते रहते थे। संघ पर उनका कठोर किन्तु नीतिपूर्ण अनुशासन था जिससे संघस्थ साधक सदा सावधान रहते थे। महत्वपूर्ण निर्णय पूरे संघ की उपस्थिति में परस्पर विचार-विमर्श करके किये जाते थे। विद्वानों के प्रति अमित वात्सल्य आचार्यश्री के व्यवहार में व्यक्त होता था। वे कहा करते थे कि 'आगम चक्षु साहू' आर्ष वाक्य को सार्थक करने के लिये यह आवश्यक है कि संघ में सदैव एक-दो विद्वानों का सान्निध्य बना रहे। इसकी आयोजना ब्र. बाबा लाड़मलजी ऐसे कौशल से करते थे कि एक विद्वान वापस जाता उसके दो दिन पहले दूसरे का आगमन हो जाता था। चौमासे में यह सिलसिला अभंग चलता रहता था।

वास्तव में विद्वानों का जैसा समागम और आगमिक चर्चाओं का जितना अवसर, उस मुनि-संघ में हमें देखने को मिला, उतना और वैसा अवसर उन दिनों अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं था। आचार्यश्री के साक्षात्-सान्निध्य में मुनिवर

श्री श्रुतसागरजी के रुपया-आना-पाई वाले चिन्तन की निष्पत्तियाँ, उनके ऊपर अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगी मुनिश्री अजितसागरजी के सटीक उद्धरण तथा विद्वानों के समीक्षात्मक मंथन, विदुषी आर्यिका माताओं का योगदान और उपस्थित जिज्ञासु जनों की सार्थक जिज्ञासाएँ उन तत्त्व-चर्चाओं को ऐसा सुगम और सुग्राह्य बनाकर हम जैसे अल्प ज्ञानी श्रोताओं के चित्त में भी उतार गईं हैं जो आज आधी शताब्दी के बाद भी हम जब मन चाहता है, उनकी सुगंध और मिठास का अनुभव कर लेते हैं।

आचार्यकल्प श्रुतसागरजी मुनिराज

आचार्यश्री वीरसागर महाराज से दीक्षित, आचार्यकल्प श्रुतसागरजी संघ के वरिष्ट मुनि थे। उनमें वात्सल्य गुण का प्राधान्य था। दोनों गुरु भाइयों में अनुपम स्नेह था, दोनों एक दूसरे का सम्मान करते थे। उनसे माताजी ने बहुत सीखा, हमें भी बड़े प्यार से समझाते और सदा 'बेटा' कह कर पुकारते थे। जन्मत: श्वेताम्बर थे, छोगालालजी उनका नाम था। वर्णीजी के प्रभाव से उन्होंने दिगम्बरत्व स्वीकार किया था। गृहस्थावस्था में भी भय-आशा-स्नेह और लोभादि मानसिक प्रदूषणों से प्राय: मुक्त, उदासीन श्रावक की चर्या पालते थे।

उनके अभिन्न मित्र बाबू सुरेन्द्रनाथजी उनका एक रोचक प्रसंग सुनाया करते थे - एक बार सम्मेद शिखर में पारसनाथ टोंक पर साथियों ने उन्हें वरदान माँगने के लिये बलात् मन्दिर के भीतर भेजा। ऐसी मान्यता है कि वहाँ जो भी कामना की जाये वह अवश्य पूरी होती है। वे बेमन से पुन: मन्दिर में गये। पाँच मिनट में लौटे तब मित्रों ने पूछा - 'छोगालालजी आपने क्या माँगा भगवान से, छोगालालजी ने मुश्किल से बताया - 'वहाँ बड़ी भीड़ थी, कहीं हमारी याचना खो न जाये इससे हम भगवान की वेदी पर अपना अभीष्ट पेंसिल से लिख आये हैं, जानना चाहते हैं तो जाकर पढ़ लीजिये।'

वेदी पर लिखी कामना पढ़ने पर दोनों साथी कपाल ठोंक कर रह गये, छोगालालजी ने वहाँ लिखा था- *'हे पारस प्रभु, मेरा सर्वनाश हो जाये।'* एक साथी ने कहा - 'अरे मूर्ख, यह क्या किया ? यहाँ जैसा माँगा जाये वैसा हो ही जाता है। अब यदि यह कामना पूरी हो गई तो तेरा क्या होगा ?' विलक्षण बुद्धि के धारक छोगालाल जी का उत्तर भी विलक्षण था - 'मुझे जो इष्ट था वही मैंने माँग लिया है, जब मिलेगा मेरा कल्याण हो जायेगा। संसार में मेरे तीन ही तो इष्ट हैं, राग-द्वेष और मोह। यही मेरे अनादि के सँगाती हैं, यही मेरे सर्वस्व हैं। इनके

इनके अलावा कौन है जिसे कभी मैंने अपना माना हो ? एक बार इनका सर्वनाश हो जाये फिर मुझे और क्या चाहिये ?'

यही निस्पृही और निर्मोही श्वेताम्बर श्रावक छोगालालजी कालान्तर में आचार्य वीरसागरजी महाराज से दिगम्बरी दीक्षा लेकर मुनि श्रुतसागर बने थे। उनका अध्ययन तलस्पर्शी और व्यवहार वात्सल्य की चासनी में पगा हुआ होता था। माताजी पर उनकी अपार कृपा रही। उनका सल्लेखना मरण भी अत्यंत सुचारु और अद्भुत शान्त परिणामों से सम्पन्न हुआ। उनकी स्मृतियों को सादर नमन।

अनवरत साधर्मी संयोग

इन पुण्य संयोगों का स्मरण करता हूँ तब यही लगता है कि परमपूज्य आचार्यश्री शिवसागरजी महाराज से संस्कारित पूज्य आर्यिका विशुद्धमती माताजी का भाग्य सचमुच बड़ा प्रबल था। दीक्षा से सल्लेखना तक उन्हें आगम की आन मानने वाले प्रकाश-पुरुष आचार्यकल्प महामुनि श्रुतसागरजी, मासोपवासी महामुनि सुपार्श्वसागरजी और अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी मुनिश्री अजितसागरजी जैसे तपस्वियों तथा विद्यमान आचार्य श्री वर्धमानसागर जी जैसे साधकों का सहारा मिलता रहा।

दीक्षा के बाद पहले दिन से वरिष्ठ आर्यिका, (सोलापुर श्राविकाश्रम की वर्तमान अधिष्ठात्री ब्र. बहिन विद्युल्लता दीदी की जन्मदात्री), पूज्य चन्द्रमती माताजी के संरक्षण से लेकर, अंत समय में परम विदुषी सुपार्श्वमती माताजी जैसी वात्सल्यमयी आर्यिका माताओं के सम्बोधन तक का सहयोग विशुद्धमतीजी को प्राप्त रहा। विनयपूर्ण निस्पृही विशिष्ट विद्वानों का समागम मिलता रहा। इस प्रकार माताजी ने अनेक वर्षों तक ज्ञान-ध्यान-तप और श्रुत की आराधना में ही अपना कालयापन किया। 'ग्रन्थराज तिलोय पण्णत्ती की टीका' जैसी श्रमसाध्य और कालजयी कृति का सृजन करने के उपरान्त ठीक समय पर सल्लेखना व्रत की आराधना करके उन्होने बचपन में पिता के सामने सीखी महाकवि दौलतरामजी की इन दो पंक्तियों को अपने आचाण में अनूदित कर दिया -

अति महा दुरलभ, त्याग विषय-कषाय जो तप आदरैं,
नर भव अनूपम कनक घर पर मणिमयी कलशा धरैं।

उन परम विदुषी पूज्य माताजी की पावन स्मृतियों को शतशः प्रणाम। ०

माताजी द्वारा साहित्य सृजन

जैन आगम की दार्शनिक और सैद्धांतिक सूझ-बूझ प्राप्त होते ही माताजी ने आचार्य महाराज के आदेश से साहित्य-सृजन के रूप में जिनवाणी की सेवा का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था। इस दिशा में उन्हें महान सफलतायें मिली हैं। अनेक छोटी-बड़ी जनोपयोगी रचनायें प्रस्तुत करने के बाद उन्होने आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'त्रिलोक-सार' की हिन्दी टीका का कार्य सराहनीय सफलता के साथ पूरा किया। विषय को समझाने के लिये माता जी ने ग्रन्थ में जो संदृष्टियाँ जोड़ी हैं उनसे उनकी विलक्षण प्रतिभा की झलक मिलती है। उसके पश्चात् भट्टारक सकलकीर्ति आचार्य विरचित अप्रकाशित 'सिद्धान्तसार दीपक', अपर नाम 'त्रिलोकसार दीपक' का वैसा ही भाषानुवाद प्रस्तुत करके माताजी ने लोकानुयोग का विषय स्पष्ट करने वाले लगभग चार हजार संस्कृत श्लोकों का संकलन सर्वप्रथम हिन्दी पाठकों को उपलब्ध कराया है।

ऐसा लगता है कि जिनवाणी की सेवा ही विशुद्धमती माताजी का जीवन व्रत हो गया था। स्वास्थ्य की बाधाओं के बावजूद, इन दो ग्रन्थों का कार्य समाप्त करके उन्होने पूज्य यतिवृषभाचार्य की लोकोत्तर कृति 'तिलोय-पण्णत्ती' के भाषानुवाद का कठिन कार्य हाथ में लिया। कार्यारम्भ करने पर, पूर्व प्रकाशित प्रति में गाथाओं की अशुद्धियों और कई अपूर्णताओं पर जब ध्यान गया तब इस कार्य की दुरूहता का सही अनुमान हुआ। इस कठिनाई ने माताजी के संकल्प को और बल प्रदान किया, अत: प्राचीन कन्नड़ी प्रतियों पर से पाठभेद लेने और गाथाओं के शुद्ध पाठ प्रस्तुत करने का उपक्रम निर्धारित किया गया।

इस ग्रन्थराज के सम्पादन में श्रवणबेलगोला और मूडबिद्री, दोनों मठों के यशस्वी भट्टारक स्वामियों के साथ-साथ श्रीमान पं.पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, डॉक्टर प्रो.लक्ष्मीचन्दजी जैन जबलपुर, प्रो.उदयचन्दजी उदयपुर, डॉ.चेतनप्रकाशजी पाटनी जोधपुर आदि अनेक महानुभावों का विशेष सहयोग रहा। ग्रन्थ का अधिकाँश कार्य उदयपुर में ही सम्पन्न हुआ जिससे उदयपुर की समाज का, विशेषत: विद्वान जौंहरी श्री महावीर जी मिण्डा और श्री शांतिलाल जी भोजन के परिवारों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

आचार्य नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती द्वारा मोहनीय कर्म की क्षपणा का विशेष वर्णन करने के लिये लिखे गये महान ग्रन्थ 'क्षपणासार' की टीका माताजी

ने स्वास्थ्य की स्थिति अनुकूल न होने पर भी अपने उपयोग की दृढ़ता से पूज्य अमितगति निसंग योगिराज के महान ग्रन्थ 'योगसार प्राभृत' की प्रश्नोत्तर रूप में टीका की है जिसका प्रकाशन श्रुतोदय ट्रस्ट श्री क्षेत्र सिद्धान्त तीर्थ नन्दनवन से हुआ है। ग्रन्थ का विमोचन ३१ दिसम्बर २००१ को नन्दनवन में हुआ। सल्लेखना के दसवें-ग्यारहवें वर्ष में 'मरणकण्डिका' ग्रन्थ की वृहत टीका माताजी ने पूर्ण की है। बीच-बीच में वे छुट पुट मौलिक रचनायें भी करती रही हैं जो ट्रेक्ट के रूप में प्रकाशित हुई हैं। प्रश्नोत्तर के रूप में भी उन्होने धर्म प्रवेशिका, छहढाला, इष्टोपदेश आदि पुस्तकें लिखी हैं जो प्रशिक्षण शिविरों में अध्यापन के लिये विशेष उपयोगी हो रही हैं। अपनी सम्पादन कला के माध्यम से भी माता जी ने बहुमूल्य साहित्य समाज को दिया है। उसमें वत्थुविज्जा (आवास), वत्थु विज्जा (जिनालय), श्रमणचर्या, समाधि दीपक, प्रतिक्रमण पाठ आदि प्रमुख हैं।

जिनवाणी की ऐसी महती सेवा बिरले साधकों के द्वारा सम्भव हो पाती है। पूज्य माता विशुद्धमती जी का पुरुषार्थ ऐसा सफल रहा जिसक परिणाम स्वरूप उन्होने आगम ज्ञान के अथाह सागरमें गोता लगाकर अनेकों मणि-माणिक्य चुने और उन्हें विद्वज्जनों तक पहुँचाने का सफल पुरुषार्थ किया है।

तिलोय पण्णत्ती की भाषा-टीका

छठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध महान ग्रन्थ 'तिलोय पण्णत्ती' का रचना काल सिद्ध है। हम जानते हैं कि उसके बाद के तीन-चार सौ वर्षों का समय, दक्षिण भारत में जैन संस्कृति के लिये विपत्ति का काल रहा है। एक ओर सनातन शक्तियाँ परस्पर धार्मिक संघर्षों में उलझकर एक दूसरे को हर प्रकार से हानि पहुँचाने के प्रयास कर रही थीं और दूसरी ओर वही शक्तियाँ अपने-अपने स्तर पर जैनों के मूलोच्छेदन में समान रूप से जुटी दिखाई देती थीं। उस कालखण्ड में जैन विद्याओं का पठन-पाठन सर्वथा विश्रृंखलित हो रहा था, हमारे देव-शास्त्र और गुरु, तीनों को मिटाने के अभियान चल पड़े थे। सैकड़ों नहीं, शायद हजारों श्रमणों और मुनियों को कोल्हू में पेलकर, हिंसक अनुष्ठान सार्वजनिक रूप से आयोजित किये गये। बड़ी मात्रा में मन्दिरों और मूर्तियों का विनाश हुआ और जैन शास्त्र-भण्डारों को जला कर महीनों तक उनके उत्सव मनाये गये। इन सारी घटनाओं से प्राचीन भारतीय इतिहास के पन्ने रंगे पड़े हैं।

दसवीं शताब्दी में तमिल देश में वैष्णव संत रामानुजाचार्य को जिस प्रकार अपमानित और प्रताड़ित किया गया कि उन्हें कर्नाटक आकर जैन राजा बिट्टिदेव का आश्रय लेना पड़ा, वह घटना उस विपत्ति काल के धार्मिक उन्माद का एक उदाहरण है। बाद में उन्होने बिट्टिदेव को वैष्णव धर्म में दीक्षित करके 'महाराजा विष्णुवर्धन' बना लिया। उन दिनों जैनों को भाषा-व्याकरण-गणित आदि विद्याएं पढ़ने और पढ़ाने के लिये जान हथेली पर रख कर, अपनी अस्मिता छिपाते हुए भटकना पड़ा और भेद खुल जाने पर अपना बलिदान तक देना पड़ा। अकलंक और निकलंक सहोदर विद्यार्थियों के जीवन की आत्म-उत्सर्गी घटना उन परिस्थितियों का वास्तविक चित्र उपस्थित करती है।

पूर्व-मध्यकाल की ऐसी विकट परिस्थितियों में, आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र और सूत्रकार उमास्वामी जैसे दिग्गज सरस्वती पुत्रों द्वारा प्रणीत शास्त्र तथा षटखण्डागम आदि कुछ ग्रन्थ, जो सूत्रों और गाथाओं की श्रुत परम्परा के माध्यम से गुरु-शिष्यों के पास पीढ़ी दर पीढ़ी कण्ठगत चली आ रही थीं वही बच पाईं। विस्तार से रचे गये 'गंधहस्ति महाभाष्य' जैसे अनगिनते शास्त्र हमें आज तक उपलब्ध नहीं हो पाये। आशंका की जाती है कि वे भी उस ईर्षानल में भस्म हो गये। यह हमारा भाग्य है कि 'तिलोय पण्णत्ती' जैसे कुछ महान ग्रन्थ, पुरुषार्थी निर्ग्रन्थ मुनियों के प्रयत्नों से, और बाद की शताब्दियों में भट्टारकों के कौशलपूर्ण संरक्षण से, विनाश की भयावनी भँवर से निकल कर, येन-केन-प्रकारेण हमारे हाथों तक पहुँच पाये।'

यतिवृषभाचार्य महामुनि के द्वारा गुम्फित ग्रन्थ **'तिलोय पण्णत्ती'** एक ऐसा ही सुरक्षित बच गया ग्रन्थराज है। यह जिनवाणी माता के कण्ठ हार में एक ऐसे 'पुष्प-गुच्छक' के समान सुशोभित है जिसमें स्याद्वाद के पुष्पों की सतरंगी छटा और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों की मनहर सुगंधि व्याप्त है। यत्र-तत्र जैन इतिहास की बेलें और पत्तियाँ उस गुच्छक को बाँधने और गूँथने का प्रयास करती दिखाई देती हैं।

जैन आगम के ऐसे अति-महत्वपूर्ण, आठ हजार गाथा प्रमाण विस्तार वाले इस ग्रन्थ 'तिलोय पण्णत्ती' की रचना छठवीं शताब्दी ईस्वी में आगम के पारगामी आचार्य यतिवृषभ महामुनि ने की थी। बीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में प्रो. ए.एन. उपाध्ये और डॉ. हीरालालजी के सम्पादन में पं. बालचन्द्रजी

सिद्धान्तशास्त्री कृत हिन्दी अनुवाद सहित पहली बार जीवराज ग्रन्थमाला सोलापुर से इसका प्रकाशन हुआ। उस संस्करण में मात्र ५६६६ गाथाएं सामने आई थीं। ग्रन्थ की प्राचीन ताड़पत्रीय पाण्डु लिपियों तथा हल्ले-कन्नड़ (प्राचीन कन्नड़) के जानकार विद्वानों का वाँछित योग नहीं मिल पाने के कारण ऐसा हुआ था। प्रथम प्रति की इस कमी को पूरा करने के उपाय ध्यान में रख कर गुरु आज्ञा से विशुद्धमती माताजी ने इसकी टीका लिखने का दुरूह कार्य हाथ में लिया।

श्रवणबेलगोला जैन मठ के भट्टारक स्वस्तिश्री कर्मयोगी चारुकीर्ति स्वामीजी तथा मूडबिद्री जैन मठ के भट्टारक स्वस्तिश्री ज्ञानयोगी चारुकीर्ति स्वामीजी ने उदारता पूर्वक ग्रन्थ की ताड़पत्रीय कन्नड़ प्रतियाँ अवलोकन के लिये उपलब्ध कराईं। श्रवणबेलगोल के चारुकीर्ति स्वामीजी ने कुछ महाधिकारों का नागरी लिप्यान्तर कराकर उपलब्ध कराया जिससे टीका को विश्वस्त आधार मिला। स्वामीजी ने कन्नड़ विद्वान श्री देवकुमारजी शास्त्री को माताजी के पास कई महीनों के लिये उदयपुर भेज दिया। इस प्रकार इन दोनों सदाशय मठाधिपतियों के सहयोग से ग्रन्थ सम्पादन के नियमों के अनुसार प्रामाणिक टीका का कार्य माताजी के द्वारा सम्भव हो सका। श्री देवकुमारजी शास्त्री के अलावा माताजी को इस कार्य में जिन अन्य विद्वानों का सहयोग मिला उन में जैन गणित के विशेष अध्येता ब्र. रतनचन्द्रजी मुख्तार ईसरी, डॉ. प्रो.लक्ष्मीचन्द्रजी जैन जबलपुर, माताजी के विद्यागुरु पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, पण्डित जवाहरलालजी भिण्डर (उदयपुर), डॉ. उदयचन्द्र जैन उदयपुर और डॉ. प्रो. चेतनप्रकाश पाटनी जोधपुर तथा महावीरजी मिण्डा उदयपुर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस विशाल टीका ग्रन्थ का प्रथम संस्करण भारत वर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के अध्यक्ष, दानशील श्रावक श्री निर्मलकुमारजी सेठी तथा कतिपय अन्य दातारों के द्रव्य से महासभा द्वारा सन १९८८ में हुआ था। उसके नौ वर्ष बाद सन १९९७ में पूज्य उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी महाराज के सदुपदेश से १००८श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र 'देहरा-तिजारा' की प्रबंध समिति के द्रव्य-सहयोग से हुआ। नौ साल और बीत गये हैं, प्रतियाँ अब उपलब्ध नहीं हैं और साधु-संघों तथा विद्वानों की ओर से ग्रन्थ की माँग बराबर आ रही है। जब इस ओर उपाध्यायश्री का ध्यान दिलाया गया तब उन्होने पुनः 'देहरा-तिजारा' अतिशय क्षेत्र की प्रबंध समिति को प्रेरणा देकर श्रीक्षेत्र की ओर से ही यह तीसरा संस्करण

भी सुनिश्चित करा दिया है, फलस्वरूप ग्रन्थ पुनः सुगमता से समाज को उपलब्ध होने का योग लग गया है। तीर्थक्षेत्रों और मन्दिरों की आय का उपयोग श्रुत के संरक्षण और प्रसार में हो यह उस धन का सम्यक् उपयोग है। इस कृपा के लिये पूज्य उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी के प्रति कृतज्ञता-पूर्वक नमन। नहिं कृतमुपकारं साधवा विस्मरन्ति वाक्य के अनुसार विद्वत्समाज प्रकाशन की उदारता के लिये श्रीक्षेत्र 'देहरा-तिजारा' की प्रबंध समिति का आभार मानती है।

तिलोय पण्णत्ती ग्रन्थ में नौ महाधिकार हैं। सोलापुर से निकले पूर्व संस्करण में कुल ५६६६ गाथाएं प्रकाशित हो पाई थीं। इस बार कन्नड़ प्रति से मिलान करके उसके अनुसार १०९ छूटी हुई गाथाएँ जोड़ी गईं हैं। गद्य के अक्षरों को गाथा प्रमाण में गिनने पर भी प्रसिद्ध गाथा संख्या ८००० में ११९८ गाथाओं की कमी रहती है। हाँ, यदि अंक संदृष्टियों के अंकों को अक्षर रूप में गिनकर शामिल किया जाये तो गाथाओं की कुल संख्या आठ हजार हो जायेगी। माताजी के सामने विद्वानों द्वारा मान्य यह विकल्प स्वीकार करने के अलावा कोई उपाय नहीं था, वह मान लिया गया, परन्तु माताजी इससे पूरी तरह संतुष्ट नहीं थीं। वे कहा करती थीं कि अन्य प्राचीन प्रतियों में कुछ गाथाएं और मिलने की सम्भावना को नकारा नहीं जाना चाहिये, विद्वानों को यथा अवसर इसके लिये शोध-खोज का प्रयत्न करते रहना चाहिये। जो भी हो, इस गणना को समझ लेने पर ग्रन्थ की वर्तमान गाथाओं में 'कुछ गाथाएं प्रक्षिप्त हैं' ऐसी निराधार टिप्पणी करने वाले विद्वानों की सारी कपोल-कल्पित धारणाएँ स्वयमेव निर्मूल हो जाती हैं।

ध्यातव्य है कि टीका प्रारम्भ करने के पूर्व विशुद्धमती माताजी ने जैन सिद्धान्त ग्रन्थों के आलोड़न के लिये, कन्नड़ भाषा और प्राचीन कन्नड़ लिपि का कुछ अभ्यास कर लिया था। जैन ज्योतिष और जैन गणित की वीथिकाओं में भी उनका प्रवेश हो गया था। माताजी ने 'त्रिलोकसार' और 'सिद्धान्तसार संग्रह' आदि ग्रन्थों की सरल हिन्दी टीकाएं रच कर उन ग्रन्थों को हिन्दी पाठकों के लिये सुगम बना दिया था। तिलोय पण्णत्ती के अनुवाद के साथ तथा उसके बाद भी माताजी का अन्य लेखन चलता रहा है। लगभग तीस मौलिक पुस्तकें लिखकर विशुद्धमती माताजी ने समाज का दिग्दर्शन किया है। वास्तुशास्त्र पर, विशेष कर मन्दिर वास्तु पर उनकी पुस्तकें उपयोगी सिद्ध हुई हैं। परन्तु इसमें सन्देह नही कि माताजी की समस्त श्रुत-साधना में 'तिलोय पण्णत्ती' ग्रन्थराज

की टीका उनकी अति विशेष उपलब्धि है। यह उनका अनुपम और उल्लेखनीय अवदान है जो आने वाली पीढ़ियों तक अध्येताओं का मार्ग दर्शन करता रहेगा। विद्वत् जगत में उनके इस पुरुषार्थ की हर जगह सराहना हुई है। इस दिव्य अवदान के रूप में माताजी ने जो उपकार किया है, उसके लिये दिगम्बर जैन समाज सदा उनका कृतज्ञ और ऋणी रहेगा।

साधना के शिखर पर समाधि का कलशारोहण

सन १९८८ में तिलोय पण्णत्ती महाग्रन्थ के तीनों खण्ड प्रकाशित होकर सामने आये तब माताजी बहुत प्रसन्न और संतुष्ट थीं। इसके दो साल के भीतर, सत्रह जनवरी १९९० को, अपनी बहत्तर वर्ष की आयु में, पूरी तरह स्वस्थ्य, सबल और सक्रिय स्थिति में, विशुद्धमती माताजी ने आचार्य अजितसागरजी महाराज से बारह साल का उत्कृष्ट सल्लेखना व्रत ग्रहण कर लिया था। तब से पग-पग पर पूरी सावधानी के साथ कषाय और काया को कृष करते हुए उन्होंने तन और मन को साध कर, समता पूर्वक समाधि-साधना में अपना पुरुषार्थ लगाया।

विशुद्धमती माताजी की बारह वर्षीय सल्लेखना की साधना में अंतिम समय तक उनकी दो समर्पित, आज्ञाकारिणी शिष्याओं ने अकथ सेवा की है। दोनों बहिनें प्रशान्तमती माताजी और उनकी सहोदरा वर्धितमती माताजी, छाया की तरह विशुद्धमती माताजी के साथ रहीं। उन्होंने भक्ति पूर्वक माताजी की सम्हाल करते हुए, ज्ञानार्जन और संयम-साधना में निष्ठा पूर्वक उनका अनुसरण भी किया है। माताजी ने भी अपने कठोर किन्तु ममतामय अनुशासन में, जन्मदात्री माता की तरह उनके पालन-पोषण और संरक्षण की चिन्ता करते हुए, उन्हें जैन विद्याओं का गहन अध्ययन कराया।

वर्ष १९८२ में पंकज नाम की एक बालिका जिसे एम-एस.सी. की डिग्री के साथ बैंक की सर्विस भी मिल गई थी, सर्विस छोड़कर माताजी के पास अध्ययन के लिये आई। माताजी से उसे ज्ञान और संयम की शिक्षा मिली। माताजी ने पंकज बेन को तन और मन से संयम धारण के योग्य बनाया था परन्तु उन्हें स्वयं दीक्षा नहीं दी। यश-लाभ की कामना मन में जाग जाती तो माताजी आसानी से ऐसा कर सकती थीं, परन्तु आर्यिका विशुद्धमती का आत्म-अनुशासन बहुत कठोर था। वे आर्यिका के द्वारा महाव्रतों की दीक्षा देने की प्रथा को आगम और परम्परा के अनुकूल नहीं मानती थीं।

परम्परा का सम्मान करते हुए उन्होंने दिगम्बर गुरु से ही ब्र.पंकज बेन को दीक्षा दिलाने का निर्णय किया और उन्हें भविष्य में इस मर्यादा का सम्मान बनाये रखने का निर्देश भी दिया। २३ अप्रेल १९८६ को सलुम्बर में, पूज्य विशुद्धमती माताजी की अनुमोदना पूर्वक, उन्हीं के सानिध्य में, पूज्य आचार्यश्री धर्मसागरजी के शिष्य दयासागरजी मुनिराज से दीक्षित होकर ब्र. पंकज बेन आर्यिका प्रशान्तमती माताजी बनीं। प्रशान्तमती माताजी तभी से छाया की तरह माताजी के साथ रहकर उनकी सेवा करती रही हैं। सल्लेखना कालमें उन्हें पल भर भी माताजी से विलग रहना बर्दाश्त नहीं होता था। उनके जैसा समर्पण और सेवा भाव प्राय: देखने को नहीं मिलता।

इतना सब होते हुये भी पूज्य माताजी के मन में एक पीड़ा थी कि संघ में मुझसे वरिष्ठ कोई आर्यिका न होने से मेरी सम्हाल कौन करेगा। आचार्य महाराज की पूर्ण कृपा है परन्तु पर्याय भिन्न होने से उनसे हर बात नहीं कही जा सकती। आर्यिकायें सब मुझसे छोटी हैं और डरती भी हैं। माताजी की इस भावना को समझा पूज्य आचार्य वीरसागरजी महाराज द्वारा दीक्षित पूज्य गणिनी आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी ने । उन्होंने अपनी दो संघस्थ आर्यिकाओं के साथ सीकरसे विहार किया और सत्ताईस दिन में साढ़े चार सौ किलोमीटर चलकर इकतीस दिसम्बर २००१ को नन्दनवन पहुँच गईं। एक ही परम्परा की इन दो आर्यिकाओं का मिलन बहुत प्रभावक था। सुपार्श्वमती माताजी ने बाईस दिन तक माताजी को अत्यन्त वात्सल्यपूर्वक संबोधन दिया तथा उचित परामर्श देकर उन्हें दृढ़ भी करती रहीं। संघस्थ ब्र. डॉ. प्रमिलाजी ने भी माताजी की बहुत सेवा की।

पूज्य माताजी की भावना थी कि उनकी समाधि किसी सिद्धक्षेत्र पर हो, परन्तु उसकी अनुकूलता नहीं बन सकी। शहरों-कस्बों के कोलाहल पूर्ण वातावरण में उन्हें शान्ति नहीं मिल रही थी। तब उनके पुत्रवत भक्त प्रतिष्ठाचार्य पं. हसमुखजी ने धरियावद नगर के बाहर अस्थायी निर्माण कराके वहाँ चातुर्मास करने का माता जी से निवेदन किया। आचार्य महाराज की स्वीकृति भी मिल गई और चातुर्मास उस भूमि पर स्थापित हो गया। चातुर्मास के बाद माताजी ने थोड़ी दूर विहार करके १९९८ का चातुर्मास समीप के मुंगाणा ग्राम में किया। फिर विहार करते हुये वे पुन: नन्दनवन पधारीं और १९९९, २००० एवं २००१ के तीनों चातुर्मास नन्दनवन में ही हुये। अंतिम चातुर्मास आचार्यश्री वर्धमानसागरजी के संघ सान्निध्य में हुआ।

सल्लेखना व्रत की अवधि पूरी होने आ रही थी, माताजी क्रमश: आहार और पानक की सीमा संकुचित करती हुईं यम-सल्लेखना की ओर बढ़ रही थीं। सोलह जनवरी २००२ को उनके व्रत की बारह वर्ष की अवधि पूरी हुई । उसी दिन मध्य-बेला में माताजी ने अनासक्त भाव से 'धर्माय तन विमोचनम्' का आदर्श प्रस्तुत करते हुए, पूज्य आचार्य वर्द्धमानसागरजी के पावन सान्निध्य में, चतुर्विध संघ को साक्षी बनाकर जीवन पर्यन्त के लिये जल का भी त्याग कर दिया। उस दिन भी उनके शरीर में इतनी शक्ति थी कि उसी खनकती आवाज में माताजी ने बाईस मिनट के वक्तव्य में चतुर्विध संघसे अपनी ओर से जाने-अनजाने समस्त प्रमादों के लिये क्षमायाचना करते हुए अपना अंतिम उपदेश दिया। वृद्ध तपस्विनी का यह अंतिम उपदेश अर्थ-गाम्भीर्य से भरा हुआ, अक्षरश: मननीय और माननीय है।

संघ की वरिष्ठ आर्यिका पूज्य सुपार्श्वमती माताजी लम्बी पदयात्रा के बाद विशुद्धमती माताजी के अंतिम समय में उनके पास पहुँची थीं। वे अपनी मानस पुत्री ब्र.डॉ. प्रमिलाजी की सहायता से आठों प्रहर सन्नद्ध होकर विशुद्धमतीजी की अंतिम साँस तक उनकी यथोचित वैयावृत्ति में सहायक बनीं। उस समय दोनों विदुषी आर्यिकाओं का परस्पर अनुराग दर्शनीय था, प्रेरक था, प्रणम्य था और देखने वालों के लिये चिरस्मरणीय बना रहेगा।

वर्धितमती जी ने अपनी पंकज दीदी की दीक्षा के समय ही पहली बार माताजी का दर्शन किया और उसी दिन से वे संघ में रहने लगीं। फिर पन्द्रह फरवरी १९९७ को आचार्यश्री वर्धमानसागरजी महाराज से दीक्षित होकर वे आर्यिका बनीं। विशुद्धमती माताजी की समाधि के थोड़े समय बाद अकस्मात वर्धितमतीजी का समाधि मरण हो गया। प्रशान्तमती माताजी एकान्त निष्ठा के साथ, अपनी परम उपकारिणी धर्ममाता के पदचिह्नों पर चल रही हैं। हम उन्हें विशुद्धमती माताजी की मानस-पुत्री के रूप में देखते हैं और उनके लिये स्वास्थ्य एवं यशस्वी दीर्घ संयमी जीवन की कामना करते हैं।

विशुद्धमती माताजी ने स्व-प्रशंसा और कीर्तिलाभ की पिपासा को जीत लिया था। अपने किसी ग्रन्थ में उन्होने कभी अपना चित्र नहीं छपने दिया और किसी संस्था के साथ अपना नाम जोड़ने की अनुमति नहीं दी। कई नगरों की समाज ने, माताजी के परिचित विद्वानों के माध्यम से, माताजी के लिये बड़ी-बड़ी उपाधियों

का प्रस्ताव किया परन्तु माताजी ने हर बार उपाधि को व्याधि बताकर मना कर दिया। उन्होंने दीक्षा के उपरान्त ३८ वर्ष के तपस्या काल में जानबूझ कर कभी अपने व्रतों की सीमा का उल्लंघन नहीं होने दिया।

अनेक बार अनेक तरह की शारीरिक व्याधियाँ सहते भी एक पग के लिये कहीं डोली या व्हील चेयर आदि का उपयोग नहीं किया। अस्वस्थ अवस्था में ग्रीष्म और शीत का प्रकोप सहते भी, कहीं पंखा कूलर, रूम-हीटर और टेलिविजन तथा टेलीफोन आदि आधुनिक उपकरणों का उपयोग नहीं किया। संक्षेप में कहें तो विशुद्धमती माताजी ने कभी आर्यिका के अधिकारों की सीमा के बाहर कोई कदम नहीं उठाया। उनकी स्पष्ट वर्जना के कारण कहीं उनका कोई स्मारक या उनके नाम पर कोई आयतन या धाम नहीं बनाया गया। यह आत्मानुशासन और ऐसी निस्पृहता विशुद्धमती माताजी की संयम-निष्ठा का प्रभामण्डल बनकर उनके नाम के साथ चमकती रहेगी।

समाधि की ओर पहला पग

पूरी तरह स्वस्थ्य और जागरूक रहते हुये भी शरीर की क्षणभंगुरता, नेत्र-ज्योति की क्षीणता की आशंका और व्रती जीवन की सार्थकता का विचार करके पूज्य विशुद्धमती माताजी ने सल्लेखना व्रत का निर्णय किया और सोलह जनवरी १९९० को पूज्य आचार्य अजितसागरजी महाराज के समक्ष, बारह वर्ष की उत्कृष्ट सल्लेखना का संकल्प व्यक्त करके उनसे अनुमति की याचना की। आचार्यश्री ने उनके इस महान संकल्प का अनुमोदन किया और उन्हें आशीर्वाद देकर सल्लेखना का नियम दिला दिया। कुछ समय बाद आचार्य अजितसागरजी महाराज की समाधि हो जाने पर उनके पट्टाधीश आचार्य वर्धमानसागर जी महाराज ने, माताजी की प्रार्थना पर उनकी सल्लेखना हेतु निर्यापकाचार्य का दायित्व ग्रहण कर लिया। उसी समय से व्रत की पूर्णता के लिये माताजी ने क्रमशः अपने मन को दृढ़ और शरीर को कृश करने के उपाय साधना प्रारम्भ कर दिया।

अब आहार में रसों की अल्पता हो गई, उपवास अधिक होने लगे। वर्ष १९९८ के चातुर्मास में एक दिन के अन्तर से आहार लेना प्रारम्भ कर दिया।

वर्ष २००० का चातुर्मास प्रारम्भ होने पर उनकी साधना और बढ़ी, अब दो दिन के अन्तर से आहार को उठने लगीं।

आषाढ़ शुक्ला सप्तमी सत्ताईस जून २००१ को माताजी ने गेहूँ तथा दाल

आदि सभी अनाजों का जीवन भर के लिये त्याग दिया। अनाज के नाम पर केवल चावल उनके लिये ग्राह्य रहा।

एक माह बाद श्रावण शुक्ला सप्तमी दिनांक सत्ताईस जुलाई को २००१ को, भगवान पार्श्वनाथ के मोक्ष कल्याणक और अपने ३८वें दीक्षा दिवस पर माताजी ने पूज्य आचार्य वर्धमानसागरजी और समस्त चतुविध संघ के समक्ष, जाने-अनजाने अपराधों के लिये सबसे क्षमा याचना के साथ, जीवन पर्यन्त के लिये सभी प्रकार के अनाज का त्याग कर दिया।

आचार्य महाराज ने इस त्याग की अनुमति देते हुये निर्विध्न समाधि के लिये आशीर्वाद दिया। दो दिन के अन्तर से होने वाले उनके आहार में दूध, छाछ और केला आदि दो-तीन फल ही शेष रहे।

तीन महिने के भीतर क्रमश: केला, दूध फिर छाछ का भी त्याग किया। एक दिसम्बर २००१ को माताजी ने पूज्य आचार्य वर्धमानसागरजी एवं समस्त संघ की उपस्थिति में आचार्यश्री से अंनुमति और आशीर्वाद लेकर शैया ग्रहण का अनुष्ठान किया।

अब आहार में मौसम्मी का रस और जल मात्र लेने का निर्णय किया।

तीन जनवरी २००२ को दो-तीन दिनों के अंतराल से मात्र जल ग्रहण करने की छूट रख कर, रस का भी परित्याग कर दिया।

तेरह दिन बाद सोलह जनवरी २००२ को बारह वर्षीय सल्लेखना अवधि पूरी हो रही थी। उसी दिन मध्यान्ह में चतुर्विध संघ के समक्ष, भरी सभा में अपना अंतिम उपदेश देते हुए माताजी ने जल त्याग की अनुमति आचार्यश्री से माँगी। निर्यापकाचार्य की अनुमोदना पाकर जीवन पर्यन्त के लिये जल भी त्याग दिया। अब उनके चारों प्रकार के आहार का सर्वथा, सदा के लिये त्याग हो गया।

इस प्रकार उन्होने अपनी कठोर संयम साधना से, उत्कृष्ट समाधि सल्लेखना की यात्रा के अंतिम पड़ाव पर अपना संकल्प दोहराते हुए, अपने लिये महायात्रा की ओर गमन करने की भूमिका तैयार कर ली।

विशुद्धमती माताजी ने श्रुत लेखन का जो कार्य दीक्षा के चार-पाँच वर्ष बाद, लगभग १९६८ में प्रारम्भ किया था वह साधना काल में भी तीस नवम्बर २००१ की रात्रि तक अनवरत चलता रहा था।

इस बीच माताजी ने 'आत्म-चिन्तन' के रूप में प्रतिदिन डायरी में कुछ बिन्दु लिखे हैं जो उनके उत्कृष्ट धर्म-ध्यान के प्रतीक हैं और साधकों के लिये प्रेरणा देने वाले हैं। कुछ अच्छे आध्यात्मिक और समाधि-सम्बंधित भजन भी उन्होने अंतिम दो महीनों के बीच लिखे हैं।

माताजी के अनन्य भक्त श्री अशोकजी गोधा ने माताजी के भजनों को टेप कैसिटों के माध्यम से और चिन्तन बिन्दुओं को कम्प्यूटर में सुरक्षित किया है।

माताजी के संक्षिप्त प्रवचन भी जल त्याग के पूर्व तक होते रहे हैं। तीन, चौदह और सोलह जनवरी को दिये उनके अंतिम उपदेश अत्यन्त प्रेरणास्पद हैं जिन्हें प्रकाशित करने का काम अभी शेष है।

जल त्याग के बाद छह दिन की कठोर साधना के बाद माताजी ने बाईस जनवरी २००२ को प्रात: साढ़े चार बजे ब्रह्ममुहूर्त में आचार्य महाराज और गणिनी आर्यिका सुपार्श्वमतीजी से पंच नमस्कार मंत्र सुनते हुये अंतिम सांस लेकर अपने संयमी जीवन के पुण्य-भवन पर उत्तुंग स्विर्णिम कलशारोहण कर लिया।

भक्तों ने चन्दन की पालकी पर उनकी देह विराजित करके शोभा यात्रा निकाली और पूर्वान्ह में नन्दनवन परिसर में ही पहले से बनाये गये एक चबूतरे पर चन्दन कपूर और हजारों नारियलों से सज्जित चिता पर विराजमान देह अग्नि को समर्पित कर दी।

सल्लेखना में सहायक

पूज्य विशुद्धमती माताजी ऐसी भाग्यवान साधक थीं कि उन्हें अपने व्रती जीवन में चार आचार्यों, परमपूज्य शिवसागरजी, परमपूज्य धर्मसागरजी, पूज्य आजितसागरजी एवं पूज्य वर्धमानसागरजी तथा आचार्यकल्प पूज्य श्रुतसागरजी का संरक्षण और मार्गदर्शन मिलता रहा जिससे माताजी की संयम साधना और समाधि की भावना हर पल दृढ़ से दृढ़तर होती गई। वात्सल्य मूर्ति आचार्य श्री वर्धमानसागरजी सल्लेखना के समय उनके निर्यापकाचार्य थे। उन्होने तथा संघस्थ मुनिराजों एवं आर्यिका माताओं ने पिछले एक वर्ष में और कुछ ने डेढ़ वर्ष तक, माताजी की समाधि साधना में अपने संबोधन, सेवा और वैयावृत्ति के द्वारा जो वात्सल्यपूर्ण सहयोग दिया वह अप्रतिम था। पूज्य आर्यिका शीतलमतीजी, दयामतीजी एवं वर्धितमतीजी ने अथक परिश्रम किया। ब्र. बहिन लीलाजी सागर, ब्र. बहिन

भारती और ब्र. मधु तथा कुछ अन्य ब्रह्मचारिणी बहिनों का भी सहयोग रहा। पूर्व में ब्र. कजोड़ीमल जी कामदार जोबनेर और ब्र. चंचलबाईजी तथा और भी अनेक भाई-बहिन हैं जिन्होने माताजी की सेवा की थी, उन सबका उल्लेख करना सम्भव है किन्तु हम उनमें से किसी के भी सौजन्य को कभी भुला नहीं पायेंगे।

जल त्याग के उपरान्त समाधि-साधना के छह दिन सल्लेखना की प्रायोगिक परीक्षा के दिन थे। छह दिन की अहोरात्रि अनवरत, कठोर साधना के बाद, बाईस जनवरी २००२ की रात्रि के पिछले पहर उस अनुष्ठान की पूर्णाहुति का समय आ गया जिस मुहूर्त के स्वागत की तैयारी माताजी बारह वर्षों से कर रही थीं। वह प्रतीक्षित घड़ी जैन संतों की सल्लेखना की परीक्षा की घड़ी होती है। उस घड़ी जिसने भयभीत होकर शरण पाने के लिये इधर-उधर दीनता की दृष्टि उठाई वह परीक्षा में विफल हो गया और जिसने मौत से आँख मिलाकर, उसे उलाहना दिया कि -'बिलम्ब तुम्हीं ने किया है, हम तो कब से तैयार हैं, चलो' बस, वही धीर-वीर-निर्मोही साधक इस परीक्षा में उत्तीर्ण होता है। विशुद्धमती माताजी ने उस घड़ी यही किया। साक्षी संत-समुदाय ने इस महापरीक्षा में उनकी दृढ़ता की सराहना की, उनकी सन्नद्धता को नमन किया।

भगवान की प्रतिमा के समक्ष मुनि-आर्यिका और श्रावक-श्राविकाओं के सान्निध्य में, उत्तम सहकारी निमित्तों के बीच, आचार्यश्री वर्धमानसागरजी और मुनिश्री पुण्यसागरजी आदि संतों से प्रभुनाम सुनते-सुनते माताजी ने निर्भय होकर जीवन का समापन किया। समता परिणामों से मृत्यु का सोल्लास स्वागत करके उन्होने सिद्ध कर दिया कि अंतसमय में भी 'समाधि-दीपक' की ज्योति उनके यात्रा-पथ को प्रकाशित कर रही थी। उनकी 'तिलोय पण्णत्ती' की प्रज्ञा-निधि उनके पास सुरक्षित थी और 'मरण-कण्डिका-टीका' के तात्पर्य अमृत से उनका चेतना-समुद्र हर्षित होकर उछल रहा था। विशुद्धमती माताजी का मरण-महोत्सव उत्कृष्ट पद्धति से सम्पन्न समाधि-साधना का आदर्श उदाहरण था। ०००

पूज्य आर्यिका विशुद्धमती माताजी का

आत्म-चिन्तन

हे सल्लेखना निरत आत्मन् ! तेरी अवगाहना उतनी ही है जितनी अवगाहना वाला यह शरीर है। जब शरीर के बाहर आत्मा ही नहीं, तब बाह्य जगत में विद्यमान जीव-अजीव पदार्थों को हृदय में स्थान देकर अपना अहित क्यों करते हो ?

हे आत्मन् ! जिस शरीर में तुम रह रहे हो उसका भी उपकार-अपकार करना जब शक्य नहीं है तब अन्य पदार्थों के उपकार-अपकार के विकल्प कैसे सफल हो सकते हैं ? व्यर्थ के प्रयास में क्यों उलझ रहे हो ?

हे आत्मन् ! ज्ञान स्वरूप निज पद की प्राप्ति कर्मोदय से नहीं होती, यह पद तो मात्र ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होता है, ऐसा तू दृढ निश्चय कर और अपनी ज्ञान-वैराग्य शक्ति से ही उसे प्राप्त करने का सतत अभ्यास कर।

हे आत्मन् ! सल्लेखनारत होकर जब तू भोजन-पान एवं शरीर से भी उदासीन हो रहा है, तब तुझे अन्य पदार्थों के संकल्प-विकल्पों से क्या प्रयोजन है ? तू अपने ज्ञान पद में ही लीन हो, इसी में संतुष्ट हो और इसी में तृप्ति का अनुभव कर, इसी से तुझे उत्तम सुख प्राप्त होगा।

हे आत्मन् ! सभी व्रतों और तपों में सिरमौर यह समाधि ही है। इस समाधि-मरण के अतिरिक्त तेरा अन्य कोई उपकारी नहीं है क्योंकि जो भव्य जीव समाधि मरण पूर्वक प्राण त्याग करते हैं वे सदा सद्गति ही प्राप्त करते हैं, ऐसा जिनेन्द्र देव का कथन है। भगवान जिनेन्द्र की इस वाणी पर अटल-विश्वास रखते हुये तुझे इस समाधि-मरण को सफल बनाने में अपनी पूरी शक्ति लगा कर जुटना है।

हे आत्मन् ! यह सल्लेखना व्रत सर्व तपों में प्रशस्त है। इसे सुचारु-रीत्या निभाने वाले भव्य जीव ही समता प्राप्त करके भव भ्रमण से छूट जाते हैं। अत: परोपकार की परिणति को रोककर अब इसी की साधना में चित्त एकाग्र करो। अब समय अति अल्प रहा है, इसे मत भूलो।

हे आत्मन् ! मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल, जिन धर्म, जैनेश्वरी दीक्षा के बाद सल्लेखना ग्रहण, ये सब उत्तरोत्तर दुर्लभ योग तुझे प्राप्त हो चुके हैं। अब यदि कषायों का आग्रह छोड़कर विकल्पों में फँसने से अपने मन को रोक सके तो ये दुर्लभ योग सार्थक हो सकते हैं, वरना किनारे पर आई यह नाव पुन: अगाध समुद्र में भटक जायेगी।

हे आत्मन् ! इस पद के अतिरिक्त अन्य जो कुछ है वह सभी आकुलतामय है, अपद है, उससे बचने का प्रयास करो।

हे आत्मन् ! यदि तेरे मन में अपने कल्याण की भावना जाग्रत हुई है तो सावधानी पूर्वक उसी मार्ग पर कदम बढ़ाता चल, यदि परिस्थितिवश पुरुषार्थ नहीं कर पा रहा है तो कम से कम उस मार्ग के विपरीत तो कोई कार्य मत कर। कल्याण मार्ग पर चलने के लिये तुझे अत्यन्त गुप्त रहना होगा। यदि किंचित भी चतुराई दिखायेगा तो जगत के प्रपंचों में फँसेगा। अत: अब तू पर-चर्चा के लिये अज्ञानी बनकर रह, परनिन्दा के लिये गूँगा और पर के दोष-दर्शन के लिये अन्धा बनकर रह। देख ! किसी को हितकारी, किसी को इष्ट, किसी को अनिष्ट मानना, किसी से घृणा और किसी का सत्कार करना, किसी के कार्य सुधारने तथा किसी का कार्य बिगाड़ने के भाव, या बुरे कार्य करने वालों को सुधारने की आकुलता इत्यादि ये सभी अध्यवसाय अद्यावधि तेरे कल्याण के मार्ग में रोड़े अटकाने वाले हैं। ये सारे कार्य मोक्षमार्ग के विरुद्ध हैं, इन्हें अब हृदय में स्थान मत दे। मात्र अपने ज्ञान स्वभाव में गुप्त रहने का अभ्यास कर। इसी से तेरा प्रयोजन सिद्ध होगा।

हे आत्मन् ! तुम अनादि काल से संसार रूपी चक्र के मध्य भ्रमण कर रहे हो और त्रिकोक-विजयी बलवान मोह पिशाच के द्वारा बैल के सदृश जोते जा रहे हो, अब तो जागो और कुछ सोचो, तुम्हारी अमूल्य निधि तुम्हारे भीतर ही छिपी पड़ी है, उसे खोजो।

हे आत्मन् ! मात्र एक सूत्र याद कर लो कि जो पुरुषार्थ स्वाधीन है वह सहज साध्य है, और जो पराधीन है वह दु:साध्य है। यह त्रैकालिक सत्य है।



नमः श्री पार्श्वनाथाय

'सुमित्रा सदन' का लोकार्पण समारोह

रीठी में धर्मानुरागी स्व. श्री सिंघई लछमनलालजी के सुपुत्रद्वय,श्री नीरज जैन और श्री निर्मल जैन की बहनों में ज्येष्ठ सुकन्या 'सुमित्रा'ने आर्यिका दीक्षा लेकर पूज्य 'विशुद्धमती माताजी' नाम पाया था। माताजी ने ३८ वर्ष के संयमी जीवन में उत्कृष्ट तपस्या के साथ जिनवाणी की उल्लेखनीय सेवाएं करके, जीवन के अंत में २२-१-०२ को उत्तम सल्लेखना-मरण प्राप्त किया।

रीठी की भाग्यशाली बिटिया 'सुमित्रा' की पुण्य-स्मृति में, पूज्य माताजी के चरणानुरागी भक्तों के सहयोग से, इस कुटिया 'सुमित्रा-सदन' का निर्माण हुआ है। सभी सहयोगियों की ओर से, इस जनोपयोगी-भवन का लोकार्पण-समारोह उत्सव पूर्वक आज सम्पन्न हो रहा है। इस मंगल आयोजन में -

अध्यक्ष पद - वरिष्ठ समाजसेवी श्री विजयकुमार जी मलैया, दमोह

विशिष्ट-अतिथि - दिगम्बर जैन महासभाध्यक्ष श्री निर्मलकुमार जी सेठी

मुख्य-अतिथि - म.प्र. के वाणिज्य-उद्योग मंत्री श्रीजयन्तकुमार मलैया

वरिष्ठ विद्वान - प्राचार्य श्री नरेन्द्रप्रकाशजी एवं श्री अनूपचन्दजी एडवोकेट

अनुष्ठान का पौरोहित्य - प्रतिष्ठाचार्य पंडित भागचन्द जी धरियावद ने

स्वीकार करने की कृपा की। अनुग्रहीत -

नीरज एवं शान्तिबाई जैन, निर्मल एवं सरोजरानी जैन,

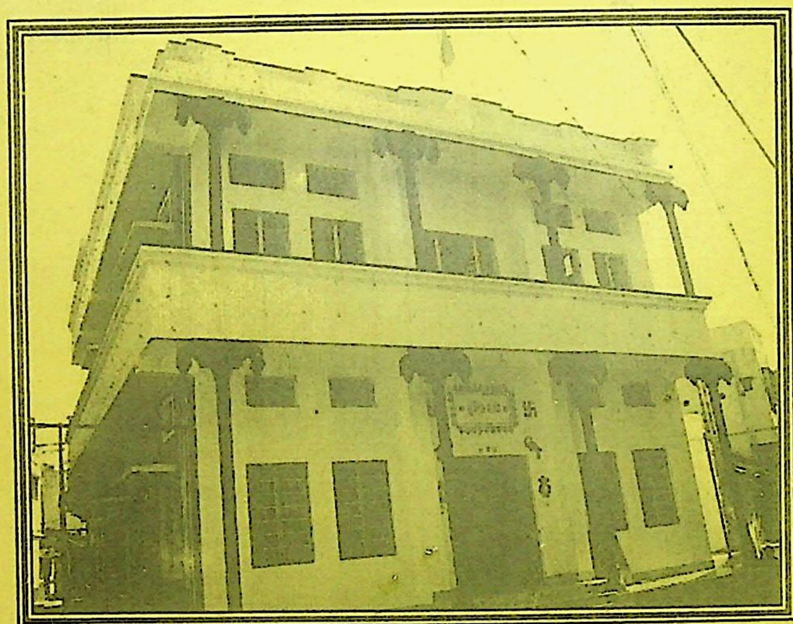
भागचन्द 'भागेन्दु'- अध्यक्ष, चौधरी शिखरचन्द - मंत्री,

नरेन्द्रकुमार-समन्वयक, अनिलकुमार-संयोजक सहित

सकल दिगम्बर जैन समाज, रीठी.

४ अप्रेल २००८

४ अप्रेल २००८ को लोकार्पित



सुमित्रा सदन